12.2.2.2.4. आदर्श भाषा एवं साधारण भाषा (Ideal language and Ordinary language)—*ट्रैक्टेटस* में विटगेन्स्टाइन ने कहा था कि दर्शन का उद्देश्य एक आदर्श भाषा का निर्माण करना है, क्योंकि साधारण भाषा स्पष्ट एवं निश्चित नहीं होती है। किन्तु, जैसा हमने ऊपर कहा है, निश्चितता का प्रत्यय स्वयं सुनिश्चित नहीं है। अतः सुनिश्चित भाषा का निर्माण सम्भव ही नहीं है। सर्वसाधारण की भाषा इतनी पुरानी है और इतने लम्बे समय से जनसाधारण के बीच सफलतापूर्वक अपना काम करती आ रही है कि इसको बदल कर किसी कृत्रिम भाषा का निर्माण करना बेमानी है। कृत्रिम भाषा के निर्माण में प्रायः भाषा के वर्णनात्मक प्रयोग को ही महत्त्व दिया गया था तथा इसके अन्य प्रयोगों की अवहेलना ही की गई थी। किन्तु भाषा के किसी एक प्रयोग को महत्त्व देना भाषा के वास्तविक स्वरूप की अनदेखी करना है। परवर्ती विटगेन्स्टाइन ने साधारण भाषा को बिलकुल समीचीन माना तथा उन्होंने अपने नये दर्शन में साधारण भाषा के अनेकानेक अन्य

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

प्रयोगों का अनुसंधान करना अपना प्रमुख लक्ष्य स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि दर्शन का उद्देश्य भाषा का अर्थ जानना नहीं, वरन् भाषा के प्रयोगों को समझना है। जभी हम भाषा के साधारण प्रयोग पर ध्यान न देकर उससे असाधारण अर्थ निकालने लगते हैं, तभी हम अर्थ का अनर्थ कर देते हैं और उन उलझनों में फँस जाते हैं जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा का एक प्रयोग हमें कुपथ पर ले जाता है, पर उसका दूसरा प्रयोग हमें सुपथ दिखलाता है। यह दूसरा प्रयोग है उसका सर्वसाधारण प्रयोग।

कोई भी जीवन किसी-न-किसी तरह से कर्ममय होता है। मनुष्य का जीवन भी कर्ममय है। मनुष्य के कर्ममय जीवन की एक विशेषता यह है कि इसमें भाषा का प्रयोग संभव है। मनुष्य के जीवनयापन में भाषा-प्रयोग के होने से अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य अपने अनेक कार्यों को भाषा की सहायता से अत्यधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न कर ले सकता है। जब कोई मनुष्य सच्चे मन से किसी बात के लिए प्रतिज्ञा करते हुए 'प्रतिज्ञा' शब्द का प्रयोग करता है तो वह प्रतिज्ञा करने का कार्य बहुत आसानी से संपन्न कर लेता है। और जिस व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए 'प्रतिज्ञा' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह व्यक्ति भी बहुत आसानी से समझ लेता है कि प्रतिज्ञा करने वाला क्या कर रहा है। वस्तुतः प्रतिज्ञा करने वाला भाषा के द्वारा कुछ कार्य ही कर रहा होता है। ऐसा सोचना कि प्रतिज्ञाकर्त्ता की भाषा का कोई स्वतंत्र एवं शाश्वत अर्थ होता है अत्यन्त भ्रामक है। यह भ्रान्ति *ट्रैक्टेटस* के विटगेन्स्टाइन में भी विद्यमान थी। वस्तुतः, भाषा का प्रयोग ही उसका अर्थ है। यह प्रयोग किसी परिस्थिति में होता है और जिस परिस्थिति में भाषा प्रयुक्त होती है उसके अनुरूप ही उसका अर्थ होता है। फिर, यह परिस्थिति समाजनिरपेक्ष नहीं होती। भाषा एक ऐसा उपकरण है जिसके प्रयोग में मानो सामाजिक सहमति अंतर्निहित होती है। उल्लेखनीय है कि मनुष्य परस्पर सहयोग से अनेक प्रकार के खेल खेलते हैं। इन खेलों के अपने-अपने नियम होते हैं। ये नियम खेलनेवालों की सहमति से ही निर्धारित होते हैं। नियमविहीन खेल खेल नहीं होते। भाषा के लिए भी समाजनिर्मित नियम होते हैं, जो नियम उसके प्रयोग के लिए ही निर्धारित होते हैं। और फिर, भाषा-प्रयोग भी तो एक तरह का खेल ही है जिसे हम भाषा-खेल (language-game) कह सकते हैं।

भाषा-खेल में भाषा भी है और खेल भी है। अर्थात् भाषा-प्रयोग भी है तथा शारीरिक क्रिया भी है। विटगेन्स्टाइन इस सम्बन्ध में भवननिर्माण की क्रिया का उदाहरण देते हैं। यह क्रिया भी एक भाषा-खेल ही है। मिस्त्री मजदूर को कहता है—'ईंट'। मजदूर मिस्त्री को ईंट लाकर देता है। मिस्त्री कहता है—'पानी'। मजदूर पानी लाकर देता है। इस तरह भाषा के साथ-साथ नियमों के अनुसार कर्म भी होता जाता है। भाषा और कर्म दोनों एक-दूसरे से इस तरह घुले-मिले रहते हैं कि दोनों मिलकर एक ही व्यापार हो जाते हैं।

भाषा के प्रयोगकर्त्ता की जीवन-शैली से भाषा का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि यदि कोई सिंह बातचीत करने लगे तो हम उसे समझ नहीं सकेंगे। और हम यह भी नहीं कह सकेंगे कि सिंह के द्वारा किसी भाषा का प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह है कि भाषा का जीवनयापन के ढंग से अर्थात् जीवन-शैली से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। यदि किसी तोता को "अब दूरदर्शन देखना चाहिए" वाक्य रटा दिया जाए और यदि वह इस वाक्य को ऐसे समय में उच्चारित कर देता है जब उसके निकट दूरदर्शन में कोई नाटक प्रारम्भ हुआ हो, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वह

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

दूरदर्शन देखने की अपनी इच्छा प्रकट कर रहा है। किन्तु यदि ऐसी ही परिस्थिति में आधुनिक समाज का कोई समझदार व्यक्ति इस वाक्य का प्रयोग करता है तो यह कहा ही जा सकता है कि यह वाक्य अर्थपूर्ण है। इस प्रकार मानव भाषा मानव जीवन-शैली के सन्दर्भ में ही अर्थपूर्ण होती है। मनुष्य अनेक कर्म करता है जिनमें भाषा-प्रयोग भी एक कर्म है जो अन्य कर्मों की संगति में ही सार्थक होता है। भाषा-प्रयोग मानो एक खेल है जिसमें भाषा एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। कोई सिंह या कोई तोता मनुष्योचित भाषा-खेल खेल नहीं सकता, क्योंकि सिंह या तोते की जीवन-शैली मनुष्य की जीवन-शैली से भिन्न हैं। जभी हम भाषा को उसके साधारण प्रयोगपरक संदर्भ से पृथक् कर देते हैं तभी वह भाषा दार्शनिक उलझन का कारण बन जाती है। विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ तब उठ खड़ी होती हैं जब भाषा अपने साधारण प्रयोग में नहीं रहकर अवकाश में रहती है। अवकाश में रहने वाली भाषा उस रेल-इंजिन के समान होती है जो किसी स्थान पर यों ही बेकार पड़ी रहती है। भाषा की अर्थपूर्णता उसके जनसाधारण प्रयोग में ही है। यही प्रयोग मानो उसका मौलिक निवास-स्थान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परवर्ती विटगेन्स्टाइन ने आदर्श भाषा के निर्माण के बजाय साधारण भाषा को ही अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है।

12.2.2.2.5. विटगेन्स्टाइन का व्यवहारवाद (Wittgenstein's Behaviourism) —साधारण भाषा में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें अनेक विचारक मानसिक व्यापार के प्रतीक मानते हैं। ये शब्द हैं—सोचना, समझना, स्मरण करना, अभिप्राय रखना, आशा करना, विश्वास करना, आदि आदि। यद्यपि विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* में ज्ञाता के रूप में आत्मा का निराकरण कर दिया था, फिर भी उन्होंने मानसिक व्यापारों के अस्तित्व को मान लिया था। कोई भी तर्कवाक्य ध्वनि या लिखित या मुद्रित चिह्नपरक वस्तुस्थिति से अपने आप सम्बद्ध नहीं हो जा सकता है। ऐसा संबंध तभी सम्भव होता है जब तर्कवाक्य का प्रयोगकर्त्ता ऐसा सम्बन्ध अभिप्रेत करता है। यह अभिप्रेत करना एक मानसिक व्यापार है जो भाषा के प्रयोगकर्त्ता द्वारा सम्पन्न किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति अन्यमनस्क स्थिति में भाषापरक ध्वनि को सुनता है या भाषापरक चिह्न को देखता है, तो वह ध्वनि या चिह्न उसके लिए निरर्थक है। उस ध्वनि या चिन्ह की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति उसे अपने मानसिक व्यापार द्वारा समझे। इस प्रकार के मानसिक व्यापारों के अस्तित्व के लिए अनेक तर्क भी दिये गये हैं। साधारण भाषा-प्रयोग में भी ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनसे यह सहज ही स्वीकार कर लिया जा सकता है कि मानसिक व्यापारों का अस्तित्व है। जब मैं अपने किसी छात्र को यह कहता हूँ कि 'सोच-समझ कर उत्तर लिखो' तब यह सहज ही समझा जा सकता है कि सोचना और समझना पूर्ववर्ती क्रियाएँ हैं और लिखना परवर्ती क्रिया। लिखना शारीरिक क्रिया है पर सोचना या समझना शारीरिक क्रिया नहीं, वरन् एक ऐसी मानसिक क्रिया है जो मानसिक स्तर पर सम्पादित की जाती है।

पर, परवर्ती विटगेन्स्टाइन ने इन निजी मानसिक प्रक्रियाओं (private mental activities) को अस्वीकार किया है। उन्होंने कहा है—समझने को मानसिक क्रिया मानने की भूल से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं है। अब यहाँ यह विचार करना अपेक्षित हो जाता है कि परवर्ती विटगेन्स्टाइन मनोवैज्ञानिक भाषा का किस प्रकार विश्लेषण करते हैं; और किस प्रकार यह विश्लेषण व्यवहारवाद (behaviourism) तथा प्रयोगवाद (use-theory) को सम्पुष्ट करता है।

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

समझने (understanding) को ही लें। मान लीजिए कि मैं दो व्यक्तियों से पूछता हूँ कि 'आप का नाम क्या है?' उन दो व्यक्तियों में एक हिन्दी जानता है और दूसरा नहीं। एक अपना नाम बतला देता है, पर दूसरा नहीं। मेरी आवाज तो दोनों ने ही सुनी है। फिर क्या कारण है कि एक उत्तर देता है, लेकिन दूसरा नहीं? इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। हिन्दी जानने वाला केवल सुनता ही नहीं वरन् समझता भी है। यह समझने का काम उसके मन में होता है। दूसरा सुननेवाला समझने का काम नहीं कर सकता, क्योंकि वह हिन्दी नहीं जानता।

किसी छात्र के सामने अंकों की यह शृंखला रखी जाती है—1, 3, 6, 10, 15, 21,..... और उसे कहा जाता है 'शृंखला को दिये हुए क्रम के अनुसार नये-नये अंकों देकर आगे बढ़ाओ'। कुछ समय के लिए तो वह शृंखला को आगे बढ़ाने में असमर्थ रहता है। फिर हठात् वह कह उठता है कि 'मैं समझ गया', और तब वह तुरंत ही शृंखला को ठीक-ठीक आगे बढ़ाने में सफल हो जाता है। यहाँ कहा जाता है कि छात्र के मन में एक सूझ (insight) कौंध जाती है जिसके चलते उसे शृंखला का क्रम स्पष्ट हो जाता है।

अब अभिप्रेत करना (intending) को लें। मेरे गाँव की एक तरफ गोपाल नामक बढ़ई रहता है और दूसरी तरफ गोपाल नामक लोहार। मुझे कुछ काठ का काम कराना है और मैं अपने नौकर से कहता हूँ कि 'गोपाल को बुलाकर ले आओ।' नौकर गोपाल लोहार को बुलाकर ले आता है। मैं अपने नौकर से कहता हूँ 'अरे, तुम किसे बुलाकर ले आये, मेरा अभिप्राय गोपाल बढ़ई से था, गोपाल लोहार से नहीं'। नौकर कहता है, 'मालिक, मैं आपके मन का अभिप्राय कैसे जान सकता हूँ? मैं तो गोपाल लोहार समझ गया।' इस प्रकार हम देखते हैं कि मेरे बोलने के साथ-साथ मेरे मानसिक स्तर पर भी एक क्रिया हुई जिसे हम अभिप्रेत करना कह सकते हैं।

कहा जाता है कि समझना, अभिप्रेत करना, आदि मानसिक व्यापार ही भाषा को अनुप्राणित करते हैं, क्योंकि अपने आप में भाषा जड़ है। पर, परवर्ती विटगेन्स्टाइन का कथन है कि भाषा को उसका प्रयोग ही अनुप्राणित करता है, कोई मानसिक व्यापार नहीं। मानसिक व्यापार यदि होते भी हैं तो उनकी भूमिका नगण्य है।

ऊपर के उदहारण में जिस हिन्दी जाननेवाले व्यक्ति ने अपना नाम बता दिया, उससे यदि पूछा जाय कि 'प्रश्न सुनने तथा अपना नाम बता देने के बीच तुमने और किसी प्रकार की क्रिया सम्पादित की थी?' तो वह अवश्य ही अकचकाएगा। वह तो कहेगा कि 'आपने मुझे मेरा नाम पूछा और मैंने अपना नाम अविलम्ब बता दिया। अपना नाम बताने में किसी अन्य क्रिया का सम्पादन करने की आवश्यकता तो नहीं हैं'। यदि बोलना और बोले हुए को समझना दो परस्पर भिन्न क्रियाएँ हैं, तो विटगेन्स्टाइन इस बात का प्रयोग करने कहते हैं कि कुछ भी बोले बिना केवल समझने की ही क्रिया सम्पादित की जाय। क्या यह सम्भव है? वे यह भी प्रयोग करने कहते हैं कि व्यक्ति बोले 'अभी ठंढा है' और समझे 'अभी गर्म है'। यदि कोई इस प्रकार का आदेश देता है कि 'जवाब देने के पहले सोच लो', तो इससे दार्शनिक भले ही समझ ले कि आदेशकर्त्ता जवाब देने वाले को उसके अपने मानसिक नेपथ्य (mental a side) में पहले एक प्रकार की मानसिक क्रिया सम्पादित करने का आदेश देता है और तब उसके बाद शारीरिक स्तर पर जवाब देने के लिए कहता है; पर साधारण व्यक्ति यह कभी नहीं समझेगा कि उसे दो प्रकार की क्रियाएँ करने को कहा

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

जा रहा है। 'जवाब देने के पहले सोच लो' का अर्थ यह नहीं है कि 'कुछ क्षणों तक सोचो और तब उसके बाद जवाब दो।' उसका अर्थ तो यह है कि 'जवाब देने में सावधानी बरतो'। जवाब देने वाले ने सावधानी बरती या नहीं इसे जानने के लिए यह जानने की आवश्यकता नहीं कि जवाब देने के पहले उसने कुछ क्षणों तक अपने मानसिक नेपथ्य में कोई क्रिया सम्पादित की थी या नहीं; बल्कि उसके लिए यह जानने की आवश्यकता है कि उसका जवाब अन्य प्रासंगिक बातों से मेल खाता है या नहीं। सही जवाब की कसौटी पूर्वघटित कोई मानसिक व्यापार नहीं है, बल्कि उसकी कसौटी सार्वजनिक रूप से परीक्षणीय प्रासंगिक तथ्य समूह के साथ संगति ही है।

जो छात्र अंकों की शृंखला को आगे बढ़ाने में सक्षम है, उसका सक्षम होना मानसिक स्तर की कोई घटना नहीं है। यदि वह कहे कि 'मैं समझ गया' और वह शृंखला को आगे न बढ़ा सके, तो उसका कहना कोरा बकवास ही माना जायेगा। समझने की कसौटी मानसिक नेपथ्य की कोई घटना नहीं है, बल्कि समझने वाले का परवर्ती व्यवहार ही है।

अभिप्रेत करने के सम्बन्ध में कहा जाता है कि मानसिक धरातल पर एक क्रिया संपादित की जाती है। पहले दिये गये उदाहरण में हम कुछ देर के लिए मान लें कि 'गोपाल' से गोपाल बढ़ई को अभिप्रेत करना एक स्वतंत्र मानसिक क्रिया है। मेरा नौकर गोपाल बढ़ई को अभिप्रेत करने में सफल भी हो सकता था। पर यदि यह क्रिया सफल हो सकती है तो यह विफल भी तो हो सकती है। किन्तु न तो इस तरह का विफल होना समझा जा सकता है और न इसका सफल होना ही; क्योंकि यह कोई क्रिया ही नहीं है। परिस्थिति के आलोक में 'गोपाल' शब्द के बोले जाने में ही बोलने वाले का अभिप्राय निहित है। अभिप्राय का निरूपण किसी मानसिक प्रक्रिया के आधार पर नहीं, बल्कि भाषा-प्रयोग के सन्दर्भ के आधार पर ही किया जा सकता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब 'गोपाल' से गोपाल बढ़ई अभिप्रेत होता है, तब बोलने वाले के मन में गोपाल बढ़ई की प्रतिमा उभर आती है और उस मानसिक प्रतिमा के माध्यम से अभिप्राय की व्याख्या की जा सकती है। किन्तु इस मत से समस्या का समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि एक तो यह कहना सही नहीं है कि नामों के प्रयोग के समय प्रयोगकर्त्ता के मन में नामियों की प्रतिमाएँ उभर आती हैं, दूसरे इस मत से समस्या सुलझती नहीं है, वरन् उस का एक नये ढंग से नवीकरण ही हो जाता है। अब समस्या इस रूप में उपस्थित हो जाती है कि नामी की प्रतिमा से नामी को किस प्रकार अभिप्रेत किया जाता है। इस नयी समस्या के समाधान के लिए किसी अन्य माध्यम की सहायता लेने से तो स्पष्ट ही अनवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समझना और अभिप्रेत करना वस्तुतः मानसिक क्रियाएँ नहीं है। इनका विश्लेषण वास्तविक या सम्भावित व्यवहार द्वारा ही किया जाना चाहिये। यह सम्भव है कि कभी-कभी समझने या अभिप्रेत करने के समय कोई मानसिक व्यापार सम्पादित हो जाय, पर तब वह मानसिक व्यापार समझने या अभिप्रेत करने का स्वरूप लक्षण नहीं हो सकता, वरन् वह उसका कोई आगंतुक लक्षण ही हो सकता है। वस्तुतः समझना या अभिप्रेत करना समझने वाले या अभिप्रेत करने वाले के आचरण या व्यवहार से ही सम्बद्ध रहता है। और साधारणतः मानसिक व्यापारों का विश्लेषण व्यवहार के द्वारा करने के कारण विटगेन्स्टाइन व्यवहारवादी ही कहे जा सकते हैं; और उनके व्यवहारवाद में भाषा-प्रयोग को उसके साधारण व्यवहार के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। मानव

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

जीवन-शैली में भाषा-प्रयोग की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लेकिन तब भी भाषा की सार्थकता उसके स्वतंत्र या निरपेक्ष रूप में निहित नहीं होती, वरन् उसके विभिन्न भाषा-खेलों में प्रयुक्त होने में होती है। चूँकि भाषा-प्रयोग मानव व्यवहार का एक आवश्यक अंग है, इसलिए विटगेन्स्टाइन के व्यवहारवाद में उस प्रयोग का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि एक अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानसिक क्रियाओं एवं मानसिक व्यापारों का भी अस्तित्व है। ऐसा मानना गलत होगा कि समझना, अभिप्रेत करना, स्मरण करना, आशा करना, सोचना आदि क्रियाएँ उसी प्रकार की क्रियाएँ हैं जिस प्रकार की क्रियाएँ खाना, दौड़ना, बोलना, आदि हैं। पर, अनेक दार्शनिकों ने ऐसे मानसिक व्यापारों को सूचित करने वाले सभी शब्दों को नाम मान लिया है और उनके अनुरूप वास्तविक सत्ताओं का अस्तित्व भी स्वीकार कर लिया है। फलस्वरूप उन दार्शनिकों के अनुसार जिस तरह 'राम' के अनुरूप एक व्यक्ति है या 'फूल' के अनुरूप एक फूल है, उसी तरह 'समझना' या 'सोचना' के अनुरूप समझना या सोचना मन में घटित होने वाली एक वास्तविक क्रिया है। अर्थात् 'समझना' या 'सोचना' भी नाम है और उसके अनुरूप भी नामी है। किन्तु विटगेन्स्टाइन के अनुसार यहाँ भी दार्शनिक चिन्तक सामान्यीकरण की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर सभी नामों को या फिर सभी प्रकार के अस्तित्वों को एक जैसा मानकर उनके अनुरूप ऐसी-ऐसी सत्ताओं की कल्पना कर लेते हैं जिनका कोई तात्त्विक अस्तित्व होता ही नहीं है। जिस प्रकार 'संख्या' शब्द के अनुरूप कोई संख्या-वस्तु नहीं है, उसी प्रकार 'मन' शब्द के अनुरूप कोई मन वस्तु नहीं है। यह सही है कि इस 'संख्या' शब्द के अनेकानेक उचित प्रयोग होते हैं। पर उसका प्रयोग जिस प्रकार से भाषा-खेल में होता है उसी प्रकार से भाषा-खेल में 'राम' या 'फूल' का प्रयोग नहीं होता। जाहिर है किसी भाषा-खेल में प्रयुक्त हो सकने के कारण ही किसी शब्द को उसका अर्थ मिलता है। प्रयोग के बिना कोई भी शब्द निरर्थक है। अतः मानसिक क्रियाओं को सूचित करने वाले शब्दों के अर्थ जानने के लिए किन्हीं मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण करना अपेक्षित नहीं है, वरन् उसके लिये मानव व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले उन भाषा-खेलों का अवलोकन अपेक्षित है जिनमें ये शब्द प्रयुक्त होते हैं।

12.2.2.2.6. संवेदनापरक भाषा का विश्लेषण (Analysis of Sensation Language)—हमने ऊपर देखा कि विटगेन्स्टाइन किस प्रकार सोचना, समझना, अभिप्रेत करना, आदि मानसिक क्रियाओं का व्यवहारवादी विश्लेषण करते हैं। पर, संवेदनाएँ भी तो मानसिक व्यापार ही हैं। क्या विटगेन्स्टाइन का व्यवहारवाद इन पर भी लागू होता है? क्या संवेदनाओं को भी व्यवहार के रूप में ही ग्रहण करना सम्भव है? किसी दुर्घटनावश मेरा पैर टूट जाता है और मैं घोर पीड़ा का अनुभव करता हूँ। क्या मेरा यह अनुभव करना मात्र मेरा शारीरिक व्यवहार है? या पीड़ा अनुभव करने की वजह से मैं विशेष प्रकार के शारीरिक व्यवहार करता हूँ? अवश्य ही मेरा अनुभव मेरा व्यवहार नहीं है। मेरा यह वर्तमान अनुभव मेरी चेतना की एक असह्य स्थिति है जिसके कारण मैं कराहने, चीखने, आदि जैसे शारीरिक व्यवहार कर रहा हूँ। अब हम यहाँ देखेंगे कि विटगेन्स्टाइन किस प्रकार पीड़ा आदि संवेदनाओं का व्यवहारवादी विश्लेषण करते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि हम लोग जब-तब किसी-न-किसी कारण से किसी-न-किसी प्रकार की संवेदनाओं का अनुभव करते ही हैं। हम कभी दर्द, तो कभी खुजलाहट, तो कभी ऐंठन, तो कभी मरोड़ का अनुभव करते रहते हैं। दर्द भी कभी माथे में, तो कभी कमर में

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

होता है। हम इन संवेदनाओं के सम्बन्ध में परस्पर बातचीत भी करते हैं और हम ऐसे बातचीत को समझते भी हैं। कोई पीड़ित व्यक्ति अपनी पीड़ा के बारे में चिकित्सक को बतलाता है, चिकित्सक उसे दवा देता है और पीड़ित व्यक्ति दवा के प्रयोग से भला-चंगा हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि इस संवेदनापरक भाषा का विश्लेषण किस प्रकार किया जाय? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह प्रश्न उठाना ही बेमानी है। संवेदनासूचक शब्द व्यक्तियों के मानसिक स्थितियों या व्यापारों के प्रतीक हैं और इन शब्दों एवं इन मानसिक व्यापारों के बीच का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जिस प्रकार का सम्बन्ध 'फूल' तथा फूल के बीच में है या 'लाल' तथा लाल रंग के बीच में है। अतः यह कहा ही जा सकता है कि 'पीड़ा' और पीड़ा में नाम और नामी का सम्बन्ध है। संवेदनासूचक शब्द मानो विभिन्न संवेदनाओं के नाम हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि जब मैं कहता हूँ कि 'मैं पीड़ा में हूँ' या 'वह पीड़ा में है', तब मैं अपनी चेतना की कष्टदायिनी स्थिति या उसकी चेतना की कष्टदायिनी स्थिति को इंगित करता हूँ। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इन वाक्यों के द्वारा जो स्थितियाँ वर्णित होती हैं वे एक ही प्रकार की स्थितियाँ हैं; उनमें भेद केवल इतना रहता है कि अनुभव करने वाले अलग-अलग होते हैं। ये वाक्य शुद्ध वर्णनात्मक वाक्य हैं, और ये सत्य तभी होते हैं जब इनके अनुरूप मानसिक स्थितियाँ होती हैं; अन्यथा ये असत्य होते हैं। और यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ये मानसिक स्थितियाँ निजी होती हैं जिनकी प्रत्यक्ष जानकारी केवल उन्हीं को होती है जो उन स्थितियों के अनुभवकर्त्ता होते हैं। मैं 'मैं पीड़ा में हूँ' का प्रत्यक्ष सत्यापन कर सकता हूँ, 'वह पीड़ा में है' का नहीं। पर विटगेन्स्टाइन संवेदनापरक भाषा की इस प्रकार की व्याख्या के घोर विरोधी हैं। वे, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, निजी मानसिक क्रिया-कलापों के अस्तित्व को स्वीकार करने के पक्ष में बिलकुल नहीं हैं और वे संवेदनापरक भाषा का केवल व्यवहारवादी विश्लेषण ही स्वीकार करते हैं।

यदि यह मान भी लिया जाय कि कोई पीड़ित व्यक्ति अपने मन में निजी तौर पर ही पीड़ा का अनुभव करता है, तो तब दूसरों के लिए यह जानना असम्भव हो जायेगा कि वह व्यक्ति पीड़ा में है। ऐसा इसलिये कि दूसरे लोग उसकी पीड़ा का अनुभव कर नहीं सकते। दूसरे लोग उस व्यक्ति के कराहने आदि व्यवहारों से केवल अनुमान लगा सकते हैं कि वह पीड़ा में है। किन्तु अनुमान तो गलत भी हो सकता है। और फिर यह भी सम्भव है कि वह तथाकथित अनुभवकर्त्ता स्वांग भर रहा हो। किन्तु क्या यह कहना सही है कि हम दूसरों के दर्द के बारे में कुछ भी नहीं जान सकते? मान लीजिये कि अभी-अभी सड़क पर एक व्यक्ति मोटरगाड़ी से कुचला गया है। उसके शरीर से खून की धारा बह रही है। वह हाथ पैर पटक रहा है और कराह रहा है। क्या ऐसी स्थिति में भी हम कहेंगे कि हम उसके दर्द के बारे में कुछ भी नहीं जान सकते, क्योंकि अनुमान गलत भी हो सकता है? निश्चय ही यहाँ एक विचित्र सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दर्द का होना एक निजी अनुभव है जो कोई दूसरा व्यक्ति तर्कतः नहीं जान सकता है। पर उपर्युक्त उदाहरण में हम निश्चित तौर पर जानते हैं कि जख्मी व्यक्ति को दर्द हो रहा है। इस तरह एक दृष्टि से तो हम नहीं जानते कि दर्द हो रहा है और एक दूसरी दृष्टि से हम अवश्य जानते हैं कि दर्द हो रहा है। यह स्पष्ट ही एक अत्यन्त विचित्र स्थिति है। पर हमारी व्यावहारिक सफलताएँ हमें यह मानने को बाध्य करती है कि हम अन्य व्यक्तियों के दर्द के बारे में निश्चित रूप से जान सकते हैं। और इसका तात्पर्य यह होता है कि दर्द कोई अज्ञेय अनुभव नहीं है।

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

यदि 'पीड़ा' निजी संवेदना का द्योतक है तो 'पीड़ा' शब्द का सही अर्थ केवल मेरे द्वारा ज्ञात होता है। और तब 'वह पीड़ा में हैं' का अर्थ होता है 'वह मेरे द्वारा अनुभूत कष्टकारी संवेदना का अनुभव कर रहा है'। पर यह तर्कतः असम्भव है, क्योंकि मेरी संवेदना मेरा निजी अनुभव है और यह किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत नहीं हो सकता। और तब अन्य व्यक्तियों की संवेदना से संबद्ध भाषा मेरे लिए निरर्थक हो जाती है। पर ऐसा निष्कर्ष कभी स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः 'पीड़ा' या अन्य संवेदनासूचक शब्द निजी व्यक्तिसीमित मानसिक व्यापार का द्योतक नहीं हो सकता।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'पीड़ा' निजी संवेदना का द्योतक तो है, पर उसका अर्थ लोग पीड़ा के शारीरिक लक्षणों के आधार पर निरूपित करते हैं और तब लोग उसे परस्पर संभाषित भी करते हैं। शारीरिक लक्षणों का निरीक्षण तो सभी लोग कर ही सकते हैं; अतः उनके माध्यम से संवेदनापरक भाषा को सार्वजनिक अर्थ दिया जा सकता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या शारीरिक लक्षणों के साथ-साथ निजी मानसिक संवेदना को मानना भी आवश्यक है। उत्तर है कि इन संवेदनाओं को मानना इसलिए आवश्यक है कि शारीरिक अभिव्यक्तियाँ ही पीड़ा नहीं हैं। वे तो पीड़ा के लक्षण मात्र हैं। 'पीड़ा' शब्द उनके लिए प्रयुक्त नहीं होता, वह तो प्रयुक्त होता है पीड़ा के लिए जो निश्चय ही आन्तरिक निजी संवेदना है। यह सही है कि मेरे द्वारा दूसरों की पीड़ा को जानने के लिए उनके शारीरिक लक्षण ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, पर मुझे अपनी पीड़ा को जानने के लिए किन्हीं शारीरिक लक्षणों की सहायता नहीं लेनी पड़ती। मैं तो 'पीड़ा' शब्द को अपनी पीड़ा के सन्दर्भ में बिना किसी शारीरिक माध्यम के ही समझ सकता हूँ और इस तरह 'पीड़ा' को नाम के रूप में एक स्थायी अर्थ दे सकता हूँ। और तब दूसरों के शारीरिक व्यवहारों के माध्यम से यह भी समझ ले सकता हूँ कि वे भी पीड़ित अवस्था में अपने-अपने मानसिक स्तर पर उसी तरह की निजी संवेदना का अनुभव करते हैं जिस तरह की संवेदना मैं अपनी पीड़ित अवस्था में अपने मानसिक स्तर पर अनुभव करता हूँ और जिसका नाम मैंने 'पीड़ा' दे रखा है।

लेकिन क्या पीड़ा का किसी तरह से नामकरण करना सम्भव है? नाम अपेक्षाकृत स्थायी होता है। यह क्षण-क्षण बदलता नहीं। और जिसका यह नाम होता है, केवल उसी को यह इंगित करता है। मान लीजिये मुझे अभी पीड़ा का अनुभव हो रहा है और मैं अपनी पीड़ा को से 'पीड़ा' नाम देता हूँ। अब मैं इस तरह के अनुभव के लिए 'पीड़ा' शब्द का प्रयोग सदैव कर सकता हूँ। फिर मान लीजिए कि कालान्तर में मैं अपने किसी एक अनुभव के लिए फिर से 'पीड़ा' शब्द का प्रयोग करता हूँ, क्योंकि मैं स्मरण करता हूँ कि इसी तरह का अनुभव मुझे पहले हुआ था जिसका मैंने 'पीड़ा' नाम रखा था। किन्तु तब, इसका क्या प्रमाण है कि मेरी पहली अनुभूति मेरी वर्तमान अनुभूति के समान ही थी। मैं उनकी समानताओं को स्मृति के द्वारा जान सकता हूँ। लेकिन क्या स्मृति भ्रामक नहीं होती? उत्तर में मैं कह सकता हूँ कि मैं स्मृति के द्वारा यह भी जान रहा हूँ कि जो स्वरूप मेरी वर्तमान अनुभूति का है, ठीक वही स्वरूप मेरी उस अतीत की अनुभूति का भी था। किन्तु दोनों अनुभूतियों का स्वरूप बिलकुल एक तरह का है, इसका फिर क्या प्रमाण है? अवश्य ही इसको भी प्रमाणित करने के लिए स्मृति की ही सहायता ली जाती है। पर तब यह प्रमाणीकरण तो ठीक उसी तरह हास्यास्पद है जिस तरह से किसी एक अखबार में छपे समाचार को प्रमाणित करने के लिए उसी अखबार की दूसरी प्रति का अवलोकन हास्यास्पद है।

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पीड़ा' किसी निजी अनुभूति का नाम नहीं हो सकता। यदि 'पीड़ा' का प्रयोग किसी निजी अनुभूति के लिए होता है तो उस 'पीड़ा' का कोई अर्थ नहीं होगा। ऐसे प्रयोगों में कोई भी संवेदनासूचक शब्द भाषा का अंग बनकर प्रयुक्त नहीं हो सकता।

इसका अर्थ यह नहीं है कि 'पीड़ा' या कोई अन्य संवेदनासूचक शब्द किसी भी भाषा-प्रयोग में भाषा का अंग नहीं बन सकता। हम लोग ऐसे शब्दों का प्रयोग अपने जीवन में बराबर करते रहते हैं और इनसे सम्बद्ध विचारों का एकदूसरों के साथ आदान-प्रदान बराबर करते रहे हैं। ऐसा इसलिए सम्भव होता है कि वस्तुतः संवेदनापरक भाषा का आधार निजी अनुभूतियाँ नहीं होतीं, वरन् संवेदनासूचक व्यवहार ही होते हैं। और यह कथन केवल भाषा के श्रोताओं के सम्बन्ध में ही नहीं, वरन् वक्ता के सम्बन्ध में भी सही है। मैं जब अपनी निजी पीड़ा के लिए 'पीड़ा' का प्रयोग करता हूँ तब उसकी भी सार्थकता मेरे व्यवहार पर ही आधारित होती है। पीड़ा-भाषा-खेल (pain-language-game) में निजी अनुभूति (private experience) का महत्त्व उसी तरह कुछ भी नहीं है जिस तरह से चित्र में बनाये गये दूध के बर्तन के भीतर रखे जाने दूध का उस चित्र के संदर्भ में कुछ भी महत्त्व नहीं है।

प्रश्न उठता है कि यदि 'मैं पीड़ा हूँ' का प्रयोग भाषा के रूप में नहीं हो सकता, तो मेरे द्वारा इस वाक्य के बोलने पर लोग समझ कैसे जाते हैं कि मैं पीड़ित हूँ तथा मेरी चिकित्सा होनी चाहिए। विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि मेरे द्वारा 'मैं पीड़ा में हूँ' का प्रयोग ठीक मेरे कराहने जैसा है। जिस प्रकार कराहना एक व्यवहार है, उसी प्रकार 'मैं पीड़ा में हूँ' का प्रयोग भी एक व्यवहार है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि कराहना जन्मजात है और इसे सिखाया नहीं जाता, लेकिन 'मैं पीड़ा में हूँ' का प्रयोग जन्म से ही ज्ञात नहीं होता और इसे समाज के द्वारा सिखाया जाता है। 'मैं पीड़ा में हूँ' का प्रयोग कोई वर्णनात्मक भाषा-प्रयोग नहीं है, वरन् यह तो महज एक व्यवहार है। यह न तो किसी अनुभूति का वर्णन करता और न ही किसी व्यवहार का। यह किसी भी तरह से वर्णनात्मक नहीं है।

किन्तु क्या जब मैं दूसरों के सम्बन्ध में संवेदनापरक भाषा का प्रयोग करता हूँ, तब भी वह भाषा वर्णनात्मक नहीं होती? क्या मेरा कथन 'वह पीड़ा में है' सत्य या असत्य नहीं हो सकता? विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह कथन अवश्य वर्णनात्मक है, इसलिए यह सत्य या असत्य हो ही सकता है। मान लीजिए कि 'वह पीड़ा में है' देवदत्त के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। इस वाक्य का सत्य होना इस बात पर निर्भर नहीं है कि देवदत्त के मन में कोई निजी अनुभूति हो रही है। हम देख चुके हैं कि निजी अनुभूति के सम्बन्ध में भाषा का निर्माण नहीं हो सकता। न ही 'वह पीड़ा में है' का सत्य होना देवदत्त के व्यवहार पर निर्भर करता है; क्योंकि यह सम्भव है कि देवदत्त पीड़ित रह कर भी कोई व्यवहार करे ही नहीं। या वह पीड़ित न रहते हुए भी ऐसा व्यवहार करे जैसा एक पीड़ित व्यक्ति सामान्यतः करता है। अर्थात् यह सम्भव है कि वह पीड़ित होने का नाटक कर रहा हो। पर यदि उपर्युक्त कथन न तो निजी अनुभूति का या न ही बाह्य व्यवहार का वर्णन है, तो आखिर वह किसका वर्णन है? विटगेन्स्टाइन के अनुसार वह वर्णन है देवदत्त की तत्कालीन परिस्थिति का। देवदत्त के सम्बन्ध में जिस समय यह कहा जाता है कि उसका पीड़ित होना बिलकुल स्वाभाविक है, उस समय उसके द्वारा कराहने, छटपटाने, आदि

Scanned with CamScanner

Scanned by TapScanner

व्यवहारों को रोके रखने पर भी वह कथन सत्य ही होगा। और यदि परिस्थिति ठीक विपरीत है अर्थात् यदि उसका पीड़ित होना स्वाभाविक नहीं है तो उसके द्वारा पीड़ित होने का नाटक करने पर भी वह कथन असत्य ही होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरों के सम्बन्ध में प्रयुक्त संवेदनापरक भाषा की सत्यता या असत्यता उस भाषा के प्रयोग की परिस्थिति पर निर्भर करती है।

परिस्थिति के आधार पर हम जान सकते हैं कि कौन व्यक्ति पीड़ा में है और कौन व्यक्ति पीड़ा में नहीं है। किन्तु हम इस प्रकार के ज्ञान के आधार पर यह नहीं समझ ले सकते हैं कि पीड़ित व्यक्ति के निजी मानसिक स्तर पर कोई संवेदना घटित हो रही है, जिसे केवल वही अनुभव कर रहा है। ऐसा समझ लेना बिलकुल ही बेतुका है, क्योंकि हम यह कभी प्रमाणित नहीं कर सकते कि किसी व्यक्ति के मन में कोई निजी घटना घट रही है। लोगों का यह समझना कि बक्से के अन्दर एक कीड़ा है बिलकुल गलत हो सकता है, क्योंकि यह सर्वथा सम्भव है कि बक्सा बिलकुल ही खाली हो। हम जब किसी पीड़ित व्यक्ति को सान्त्वना देते हैं, उसकी चिकित्सा कराते हैं, उसको आराम देने के लिए प्रयत्न करते हैं, उस पर दया करते हैं, आदि आदि, तब उस समय हमारे सभी आचरण हमारी जीवन-शैली के कारण ही सम्पादित होते हैं। हमारी जीवन-शैली ही कुछ ऐसी है कि व्यक्तियों के प्रति हमारा व्यवहार भौतिक वस्तुओं के प्रति हमारे व्यवहार से सर्वथा भिन्न होता है। और यह हमारे जीवनयापन का एक सर्वसामान्य ढंग है। इसको उसी रूप में स्वीकार करना चाहिए। आम लोग ऐसा ही करते हैं और वे किसी प्रकार की दार्शनिक उलझन में नहीं पड़ते। दार्शनिक गुत्थी में तो दार्शनिक तब पड़ जाते हैं जब वे जीवन-शैली की व्याख्या करने लगते हैं और पीड़ासूचक आचरणों के कारण के रूप में निजी मानसिक अनुभूतियों की खोज करने लगते हैं। जीवन-शैली को तो उसके सामान्यतः विद्यमान रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। दर्शन में उसकी किसी विशेष तरह की व्याख्या अपेक्षित नहीं है। पीड़ा या अन्य संवेदनापरक भाषा-खेल हमलोग सभी खेलते हैं और हमलोग सभी जानते हैं कि हम इसे कैसे खेलते हैं। ऐसी स्थिति में इस बात की जरा भी अपेक्षा नहीं रहती है कि हम ऐसे भाषा-खेलों को निजी आन्तरिक संवेदनाओं पर आधारित मानकर उनकी तदनुरूप ही व्याख्या करें।

Scanned by TapScanner